ओ३म्

परमात्म–साक्षात्कार – कैसा?

सतीश आर्य

भूमिका

परमात्मा का साक्षात्कार किस रूप में होता है ? इस विषय पर विद्वत्-जगत् में विभिन्न विद्वानों की ही जब भिन्न-भिन्न मान्यता है, तो उस स्थिति मे जन साधारण का भ्रान्त होना एक सामान्य सी बात है। वेदानुकूल मान्यताओं को समझने तथा मानने वाले वर्ग को छोड कर, पौराणिक जगत् में तो यह मान्यता है कि ईश्वर पुरुष शरीरधारी के समान है जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि तथा इसी रूप में ही अपने भक्तों को दर्शन भी देता है — यह मान्यता अज्ञानमूलक होने से सर्वथा मिथ्या है। इस्लाम और ईसाईयत् के अनुयायी तो मोहम्मद पैगम्बर और ईसा मसीह को अधिक महत्त्व देते तथा ईश्वर को एक स्थान विशेष पर स्थित मानते हैं। उनकें यहाँ तो ईश्वर-साक्षात्कार का कोई प्रश्न ही नहीं है।

वेदानुकूल मान्यताओं के बहुत से विचारक तथा विद्वान् भी परमात्म-साक्षात्कार को एक दिव्य-ज्योति के रूप में मानते हैं। इनकी मान्यता में जीवात्मा को स्वयं का साक्षात्कार भी एक ज्योति के रूप में होता है तथा योग में, असम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था में, परमात्मा का साक्षात्कार भी एक दिव्य-ज्योति के रूप में ही होता है। इस मान्यता के पीछे यह अवधारणा है कि परमात्मा ज्योतिस्वरूप तथा प्रकाशस्वरूप है तो उसका साक्षात्कार भी ज्योति, तेज के रूप में ही होना चाहिए। दूसरी ओर कुछ विद्वानों की मान्यता इससे भिन्न है।

आर्य जगत् के विद्वान् ब्र० जगन्नाथ पथिक, अपनी दोनों पुस्तकों, अनासक्ति योग - मोक्ष की पगडण्डी, तथा संध्या योग - ब्रह्मसाक्षात्कार में इन्हीं मान्यताओं को ही प्रतिपादित करते हैं, जैसे —

एकाग्र अवस्था में सविचार समाधि में प्रकृति का साक्षात् करने के पश्चात् साधक को निर्विचार समाधि की अवस्था में आत्मा का स्मित अध्यात्म-प्रसाद के रूप में - ज्योत्सना के रूप में फूट पड़ता है। चित्त रूपी स्वर्ण का पिंजडा खुलने पर अजर, अमर, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध, ज्योति का पुंज हंस आत्मा का साक्षात् होता है। आगे चल कर निरुद्ध अवस्था में परमात्म-साक्षात्कार भी भागवत् ज्योति के रूप में ही होता है। कोई भी

भौतिक ज्याति आत्म ज्योति की समता नहीं कर सकती।

"पूर्व देखा था कि मेरे मस्तिष्कगत सहस्रार में सहस्रों सूर्य उदित हो रहे हैं, यही से प्रवाहित हो रहे इस दिव्य आलोक से मानों विश्व का कण-कण तथा प्रत्येक कोण प्रकाशित हो रहा है; अन्दर की ज्योति ज्वाला गगनस्थ सूर्य चन्द्र को भी मानों प्रकाश दान दे रही है - यह सब अंहकार का विस्तार है; इस अवस्था को प्राप्त योगी की संज्ञा विष्णु होती है। उक्त भ्रम तभी मिटता है जब योगी विवेकज ऋतम्भरा प्रज्ञा के आलोक की सहायता से कार्य ले, तब उसे जड-चेतन में चराचर में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण नीचे-ऊपर सर्वत्र व्यापक ब्राह्मी ज्योति और उसकी विविध शक्तियाँ कार्यरत दीख पडती हैं।" अनासक्ति योग - मोक्ष की पगडण्डी - पृष्ठ १२२॥

"......गायत्री से आराधित सविता यह 'हृदयगत-प्रकाश' ही है, जिसका गायत्री गान करती है; यह हृदयाकाश शून्य नहीं है, ब्रह्म से परिपूर्ण एकरस है। हृदयाकाश में प्रकाश रूप से व्याप्त ब्रह्म परिपूर्ण, अपरिवर्तनशील सदा एक रस सा बना रहता है। .... हृदयाकाश में फैला ब्रह्म का प्रकाश तथाकथित मण्डलाकार में अनुभव होता है........." संध्यायोग ब्रह्मसाक्षात्कार पृष्ठ १५४, चित्र ११(क) की व्याख्या। यह चित्र हृदय में फैले आत्म तथा ब्रह्म के प्रकाश को ही दर्शाता है।

"..... उपासक .... उस पाप-ताप-तिमिरनिवारक भागवत दिव्य आलोक को, आलोक रूपा बुद्धि में स्थिर रखने ..... तथा .... उसी में निमग्न रहने लगता है। ऐसी दशा में ब्रह्मरन्ध्र कें पथ से, शुभ्रता से भरा स्वर्णिम भागवत आलोक धारा मानव मस्तिष्कगत विज्ञानमय कोश को प्रदीप्त करने लगती है। ......" संध्यायोग ब्रह्मसाक्षात्कार पृष्ठ २०७, चित्र १७ की व्याख्या। इस चित्र में ऊपर परमात्मा से मस्तिष्क में 'गायत्री ध्यान' से ज्योति का आह्वान किया गया है।

".......उस विश्वात्मा-जगदात्मा आदित्य से सदा परिस्रवित हो रही **ज्ञान, ज्योति**, शक्ति, शान्ति की धाराएँ, उस उपासक को सतत-निरन्तर-सदा शीतलता प्रदान करती, इसे आत्मसात् करके कवच बनी, अपने में छिपाए, आवेष्ठित और निमग्न किये रहती है।......." संध्यायोग ब्रह्मसाक्षात्कार पृष्ठ २३१, चित्र १९ की व्याख्या। यह चित्र में उपासक हृदय तथा बाहर सभी

तरफ फैली परमात्म ज्योति से आलोकित हो रहा है। यहाँ ज्ञान और ज्योति को अलग-अलग माना है। इसी प्रकार के वाक्य इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं।

इसी प्रकार हठयोग के मानने वालों ने तथा स्वामी योगेश्वरानन्द जी ने अपनी पुस्तकों 'आत्म-विज्ञान' तथा 'ब्रह्म-विज्ञान' में इन्हीं सिद्धान्तों को माना तथा प्रचारित किया है।

इस प्रकार इनकी मान्यता के अनुसार आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार एक ज्योति - दिव्य ज्योति के रूप में ही होता है।

इस पुस्तक में हम इस मान्यता पर विचार करेंगे कि क्या परमात्मा का साक्षात्कार किसी ज्योति या तेज के रूप में ही होता है या अन्य प्रकार से?

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में —

ईश्वर साक्षात्कार के विषय मानव जगत् की भ्रान्तियों को दूर करने में यह एक महत्त्वपूर्ण लघु पुस्तिका है। इस पूरी पुस्तिका का वेदवाणी में क्रमशः प्रकाशन भी हुआ था। आर्य जगत् के किसी भी विद्वान् ने इस विषय पर कोई प्रश्न नहीं उठाया। इस प्रकार यह पुस्तिका ईश्वर प्रत्यक्ष के विषय में एक महत्त्वपूर्ण भ्रान्ति का निराकरण करने में सफल रही है।

प्रथम संस्करण में कम्पोजिंग की कुछ अशुद्धियाँ रह गयी थी, जिन्हें ठीक कर दिया गया है। तथा सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण हेतु भाषा में भी यथास्थान परिवर्तन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण को हमने अपनी वेबसाईट www.ved-yog.com पर डाला है। आशा है कि विश्वजन-मानस इससे लाभ उठायेगा।

सतीश आर्य

लेखक के अन्य ग्रन्थ —

१. पातञ्जल योगदर्शन

(व्यासभाष्य, भोजवृत्ति तथा **"वैदिक योग मीमांसा"** सहित)

योगदर्शन पर व्यासभाष्य एक प्रामाणिकभाष्य है। वर्त्तमान युग के महान् योगी महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा, विभिन्न ग्रन्थों में, प्रतिपादित योगविषयक मान्यता एवं सिद्धान्तों के आधार पर योगदर्शन की प्रामाणिक व्याख्या। इस योगभाष्य की विशेषताएँ, जो इसे दूसरे उपलब्ध भाष्यों से पृथक करती हैं, निम्न प्रकार हैं —

१. व्यासभाष्य और भोजवृत्ति का पदार्थ।

२. व्यासभाष्य और भोजवृत्ति पर उपलब्ध पाठभेदों का यथासम्भव टिप्पणी में संकलन।

३. सूत्रों पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध अर्थों / विचारों का, सूत्रों के साथ प्रस्तुतिकरण। (**१०३ सूत्रों पर ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों तथा वेदभाष्य से प्रमाण**)।

४. सूत्रों पर **"महर्षि व्यास"** के मन्तव्य तथा व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी के अनुकूल **"वैदिक योग मीमांसा"** नामक आर्य = हिन्दी भाषा में व्याख्या। (**१४४ सूत्रों की व्याख्या में योगसूत्रों तथा व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी एवं सन्दर्भ**)।

५. **"वैदिक योग मीमांसा"** में आवश्यक स्थलों में, सूत्रों में व्याख्यात विषयों का, वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन। (**१०७ सूत्रों पर लगभग ५०० प्रमाण**)

६. विभूतिपाद की विभिन्न विभूतियों का व्यासभाष्य के आधार पर, वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों में उपलब्ध प्रमाणों के अनुकूल व्याख्या एवं स्पष्टीकरण।

७. विभिन्न भाष्यकारों द्वारा प्रक्षेप अथवा असम्भव आदि कोटियों में रखी गई विभूतियों / सिद्धियों का वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों के सिद्धान्तों

के आधार पर स्पष्टीकरण तथा विभूतियों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन।

८. महर्षि व्यास एवं महर्षि पतञ्जलि के कतिपय सिद्धान्तों के प्रतिकूल, विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा, योग के विभिन्न सूत्रों में प्रतिपादित हुई मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का खण्डन।

९. आर्यजगत् के विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यासभाष्य में कथित, प्रक्षेपों के आरोप का निराकरण तथा तथाकथित प्रक्षिप्त स्थलों के वास्तविक अभिप्राय का स्पष्टीकरण।

१०. प्रस्तुत "वैदिकयोगमीमांसा" में, वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों में प्रतिपादित सत्य सिद्धान्तों के अनुकूल तथा प्रामाणिक व्याख्या।

ग्रन्थ साईज — २० * ३० / ८ साईज में लगभग ८८० पृष्ठ
मूल्य : सामान्य संस्करण रु० ३५०.०० (लागतमात्र)

Price : USD 50.00 (Outside India)

२. कर्म एवं कर्मफलमीमांसा

कर्म एवं कर्मफल के मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन करनी वाली एकमात्र पुस्तक, जिसमें वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का एक ही स्थान पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ईश्वरीय और मानवीय कर्मफल व्यवस्था, मानवों की कर्म-स्तवन्तत्रता का वर्णन, चित्त का स्वरूप तथा वृत्तियाँ; अविद्यादि क्लेशों का स्वरूप; हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार आदि मनोविकारों का वर्णन तथा इनसे बचने के उपाय; मानवीय कर्म विवेचन; आदर्श कर्म व्यवस्था; मानवीय तथा ईश्वरीय कर्मफल व्यवस्था का वर्णन तथा अन्तर; अशुभ और मिश्रित कर्मों के लिये शास्त्रों में प्रतिपादित "प्रायश्चित्त" का विधान; नियतिवाद और नीतिवाद; वैराग्य; कर्म और कर्मफल सम्बन्धित विभिन्न शंकाओं का प्रश्नोत्तर द्वारा यथासम्भव समाधान भी दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषताएँ —

१. कर्मफल के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन।

२. कर्मफल के रूप में मिलने वाले जाति, आयु और भोग का विस्तारपर्वूक विवेचन।

३. कर्म के स्वरूप तथा भेदों का निरूपण।

४. वैदिक दर्शनों में मानव जीवन की सफलता के लिए प्रतिपादित कर्म मीमांसा का दिग्दर्शन।

५. परमात्मा द्वारा जीवों के लिए प्रदत्त "कर्म-स्वतन्त्रता" का निरूपण।

६. अविद्या आदि क्लेशों के स्वरूप का विवेचन।

७. हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार आदि मनोविकारों का सविस्तार वर्णन तथा इनसे बचने के उपाय।

८. मानवीय तथा ईश्वरीय कर्मफल व्यवस्था का वर्णन तथा दोनों व्यवस्थाओं का अन्तर।

९. ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों के पक्ष में वेदादि सत्शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा पुष्टि।

१०. अशुभ और मिश्रित कर्मों के लिये शास्त्रों में प्रतिपादित "प्रायश्चित्त" का विधान।

११. मानव समाज में फैले नियतिवाद का सप्रमाण खण्डन तथा नीतिवाद का प्रतिपादन।

१२. कर्म और कर्मफल सम्बन्धित विभिन्न शंकाओं का प्रश्नोत्तर द्वारा यथासम्भव समाधान।

पृष्ठ संख्या :— ५७६

मूल्य : रु० २५०.०० (भारत में)

Price : USD 40.00 (Outside India)

३. गीता-सार (गीतासार का वैदिक रूप)

इस एक पृष्ठ के सार में गीता के वास्तविक स्वरूप का वर्णन वैदिक मान्यताओं के आधार पर किया गया है। वास्तव में श्रीकृष्ण जो सच्चे

वेदानुयायी थे, उनका उपदेश वेद की मान्यताओं से विपरीत कैसे हो सकता था। परन्तु आजकल के प्रचलित सार का तात्पर्य तो निष्क्रियवाद तथा नियतिवाद ही है जोकि वेद से विपरीत है। इससे यह प्रतीत होता है कि गीता में इस प्रकार की मान्यताएँ है। अतः इस दोष का निराकरण इस गीता सार में किया गया है।

४. वैदिक धर्म ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ में वेद तथा वेदानुकूल सभी ग्रन्थों के नाम तथा संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिससे यह पता चलता है कि वेद प्रतिपादित तथा हमारे पूर्वजों द्वारा उपार्जित ज्ञान कितना विशाल तथा विस्तृत है। संसार में फैला हुआ ज्ञान इन्हीं ग्रन्थों से ही निकला है चाहे वह किसी भी विषय का हो। हम अपने इन धर्म ग्रन्थों के बारे में कम से कम जान तो लें जिससे कभी न कभी इस ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा भी जाग्रत हो सकती है।

५. यज्ञ-विधि (संस्कारविधि के आधार पर सम्पादित)

यह पुस्तक नित्यकर्म, पञ्चमहायज्ञ आदि विधियों के लिये प्रामाणिक ग्रन्थ है, जो कि महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रणीत संस्कारविधि के अनुसार है। इसमें यज्ञों की विधियों को ज्यों का त्यों सही-सही रखा गया है। इसका स्पष्टीकरण सम्पादकीय में विस्तृतरूप से किया गया है। आजकल छप रहीं अधिकांश नित्यकर्म की विधियों की पुस्तकों में मनमाना परिवर्तन करके महर्षि दयानन्द के नाम से छापा जा रहा है जो कि गलत है। महर्षि दयानन्द जी के द्वारा बताये गये इन यज्ञों की विधियों का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसका स्वाध्याय अवश्य करें।

पुस्तक संख्या ३-५ हमारी वेबसाईट www.ved-yog.com पर उपलब्ध हैं, जिन्हें आप बिना किसी शुल्क के कापी कर सकते हैं।

सम्पादकीय

ईश्वर के प्रत्यक्ष के विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने लिखा है:-

"इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचनाविशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।" (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)।

इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष से होता है। जो लोग रूप (= प्रकाश) के प्रत्यक्ष से ईश्वर का प्रत्यक्ष मानते है वे भ्रान्त हैं। इसी प्रकार से अन्य रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि के लिये समझ लेना चाहिए। ज्योति का अर्थ ज्ञान है। परमेश्वर ज्ञानस्वरूप है अतः उपासना में भी ज्ञानस्वरूप ही प्रत्यक्ष होगा न कि भौतिक प्रकाश या रूप के स्वरूप का। इस लघु ग्रन्थ में विशेष रूप से इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है। एतत् विषयक बहुत से प्रमाण शास्त्रों (वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि) के प्रस्तुत किये गये हैं। आशा है सुधी पाठक इससे अवश्य लाभ उठायेंगे।

आचार्य भद्रकाम वर्णी

परमात्म-साक्षात्कार - कैसा ?

परमात्म-साक्षात्कार को दिव्य ज्योति अथवा तेज के रूप में मानना उचित है अथवा नहीं। आइए इस विषय में हम कुछ प्रमाणों तथा तर्कों पर विचार करें।

१. बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय के सातवें ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य उद्दालक के ब्रह्मविषयक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं —

"यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेज शरीरं यस्तेजो- ऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम्॥" बृहद० उपनिषद् ३.७.१४॥

भावार्थ :- जो तेज में रहता हुआ भी तेज से अन्तर अर्थात् बाहर भी है। जिसे तेज नहीं जानता, परन्तु तेज उसका शरीर है; जो तेज के अन्दर तथा बाहर स्थित हो तेज का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है॥

यहाँ तेज वस्तुतः जड है, वह परमात्मा को कैसे जान सकता है कि मेरे अन्दर कोई मेरा शासक है ? यह आलंकारिक वर्णन है। तेज का जो स्वरूप तथा उसकी जो महिमा है उससे बढकर उस परमात्मा की महिमा है। यहाँ तेज को उसका शरीर कहा है - क्योंकि तेज के भीतर भी वह है। अतः जितने अंश में तेज है मानो वह अंश उसके शरीर के समान है वास्तविक शरीर नहीं।

इसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशा, चन्द्र-ताराओं, आकाश, तम, सम्पूर्ण भूतों, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, रेत में रहता हुआ भी इनसे बाहर है; अलग है। यह सभी पदार्थ उस परमात्मा के अपने-अपने अंश तक उसके शरीर रूप में हैं। वह इनके भीतर रहता हुआ भी उनको अपने-अपने व्यापार में रखता है। जो मोक्षप्रद है वही सब का आत्मा है अन्तर्यामी है। इसी प्रसङ्ग के अन्त में कहा है कि :—

"…. त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽ- तोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरूपरराम् ॥ बृहद० उपनिषद् ३.७.२३॥

अर्थात् : जो (अमृतः) मोक्ष को देने वाला वा मरण धर्मरहित अर्थात् निर्विकार है और जो (ते आत्मा) तेरा मेरा और सब का पूजनीय परमात्मा है (एषः अन्तर्यामी) यह वह अन्तर्यामी है। पुनः वह कैसा है (अदृष्टः) किन्हीं ने न जिसको देखा न देखेंगे न देखते हैं परन्तु (द्रष्टा) स्वयं जो सबको देखनेहारा है अर्थात् उसको तो कोई नहीं देख सकता परन्तु वह सब को देखता है। आगे भी इसी प्रकार का भाव समझना, पुनः (अश्रुतः) जो सुना नहीं जाता परन्तु (श्रोता) जो सबकी बात सुनता है। (अमतः) जो मनन नहीं किया जाता परन्तु (मन्ता) जो सब का मनन करता है। (अविज्ञातः) जो जाना नहीं जाता परन्तु (विज्ञाता) जो सबको अच्छी तरह जानता है। फिर वह कैसा है (अतः) इस अन्तर्यामी से (अन्यः) अन्य कोई (द्रष्टा न अस्ति) द्रष्टा नहीं है अर्थात् वही एक द्रष्टा है (अतः अन्य श्रोता न अस्ति) इससे अन्य श्रोता नहीं है (अतः अन्यः मंता न अस्ति) इससे अन्य मंता नहीं है (अतः अन्यः विज्ञाता न अस्ति) इससे अन्य विज्ञाता नहीं है अर्थात् जिससे परे न कोई द्रष्टा, न कोई श्रोता, न कोई मंता, न कोई विज्ञाता है। जो स्वयं अदृष्ट, अश्रुत, अमत, अविज्ञात है वही अन्तर्यामी है। पुनः वह कैसा है ? (अमृतः) अमृतवाला है। पुनः (ते आत्मा) तेरा मेरा सब का पूज्य परमात्मा है। (एषः) यही वह (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी है। हे गौतम ! (अतः) इस विज्ञान से (अन्यत्) अन्य जो विज्ञान हैं वह (आर्तम्) दुःखग्रस्त अर्थात् दोषप्रद है। "

यहाँ पर परमात्मा को स्पष्टया अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अविज्ञाता कहा है। दूसरा देखने, सुनने, मनन करने और जानने वाला कौन है? क्या प्रकृति ? नहीं वह तो जड है; न वह देख सकती, न वह सुन सकती, न वह मनन कर सकती और न वह जान सकती। शेष बचे जीव। वह जीव = आत्मा ही चेतन होने के कारण परमात्मा को देख, सुन, मनन कर तथा जान सकते हैं; परन्तु परमात्मा को तो चक्षु से देखा, श्रोत्र से सुना, मन से

मनन तथा किसी भी अन्य साधन से पूर्णतया जाना ही नहीं जा सकता — महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों में। तब जीव परमात्म-साक्षात्कार किस तरह करे? योग मार्ग पर चल कर भी असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में परमात्मा का साक्षात् कैसे हो?

२. केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में ब्रह्म की देवों की अपेक्षा अद्वितीय महिमा होने की कथा है। इस कथा के अनुसार वायु तथा अग्नि देव परमात्मा को पुरुषार्थ करने पर भी न जान सके और तेजहीन होकर लौट आये।

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेत द्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्त-स्मात्तिरोदधे ॥केनो० ३.११॥

तब देवों ने इन्द्र अर्थात् जीव को ब्रह्म रूपी यक्ष को जानने हेतु भेजा। जब जीव रूपी इन्द्र, ब्रह्म को जानने हेतु सम्मुख गया तब इन्द्र को आते देख कर ब्रह्म अन्तर्धान हो गया। वह यक्षरूप तेज इन्द्र को नहीं दीख पडा। अभिप्राय यह कि अपने साधन बुद्धि आदि के ठीक होते वा अन्तःकरण की शुद्धि से मुझे जान सके ऐसा मानकर उस जीवात्मा का अभिमान छुड़ाने के लिए आश्चर्यरूप बिजुली का सा तेज दिखाई देकर छिप गया।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताꣳहोवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ केनो० ३.१२॥

वह जीवात्मा जहां ब्रह्म प्रकट और अन्तर्धान हुआ था उसी हृदयस्थ अवकाश में ज्ञानस्वरूप अत्यन्त शोभित स्त्री को अर्थात् शोभा से अत्यन्त शोभवती ब्रह्मविद्या रूप सूक्ष्मबुद्धि को प्राप्त हुआ। उस उमा नामक बुद्धि से जीवात्मा पूछता है कि यह पूजनीय यक्ष कौन है ?

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥ केनो० ४.१॥

वह उमा ब्रह्मविद्यारूप बुद्धि यह कहने लगी जो प्रगट हुआ था वह ब्रह्म है। तुम लोग निश्चय कर उसी ब्रह्म के महत्त्व में अपने महत्त्व को प्राप्त होओ। ईश्वर की भक्ति सेवा से बड़े बनो जिसको तुम लोग अपना महत्त्व समझते थे वह ब्रह्म का ही है।

यह कथा उपदेशात्मक है। वस्तुतः ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से कही पर प्रगट हो ही नहीं सकता। यहाँ मात्र ब्रह्म का महत्त्व तथा उसको जानने के लिए साधक कौन हो सकता, तथा साधन क्या हैं यह ही बताया गया है। कथा में भी जीवात्मा रूपी इन्द्र, तेज अर्थात् अग्नि तथा वायु आदि के द्वारा ब्रह्म को न जान सका बल्कि ब्रह्मज्ञान रूपी बुद्धि के द्वारा ही ब्रह्म को जान सका।

कठोपनिषद् में भी परमात्मा को देखने का साधन ज्ञान कहा है।

एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ कठो० ३.१२॥

अर्थात् :- (एषः) सबको नियम में रखने वाला योगियों ने जिसको प्रत्यक्ष किया ऐसा (सर्वेषु) सब (भूतेषु) प्राणीमात्र में (गूढात्मा) गुप्त अलभ्य परमात्मा (न प्रकाशते) विषयासक्त इन्द्रियों के साथ फंसी बुद्धि से नहीं जाना जाता (तु) किन्तु (अग्रयया) कुश की नोक के तुल्य सूक्ष्म विषय में प्रवेश करने वाली (सूक्ष्मया) सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय में प्रवेश करने वाली (बुद्ध्या) बुद्धि के द्वारा (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शी जनों से (दृश्यते) देखा जाता है॥

अतः जीवात्मा ही सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा, योग मार्ग पर चल कर, असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में परमात्मा को देखता है; अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥
कठो० ३.१५॥

अर्थात् :- (अशब्दम्) जो ब्रह्म शब्द वा शब्द गुण वाले आकाश से विलक्षण है। और वाणी से जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता (अस्पर्शम्) जो स्पर्श गुण वाले वायु से विलक्षण है, और जिसका स्पर्शेन्द्रिय (= त्वचा) द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् छुआ नहीं जा सकता, (अरूपम्) जिसका कोई रूप नहीं, अर्थात् जो रूप गुणवाले तेज से विलक्षण है और रूप के द्वारा देखा नहीं जा सकता, (अव्ययम्) जो अविनाशी है

(तथा) एवं (अरसम्) जो जल के रस नामक गुण से रहित है, अर्थात् रसना (= जिह्वा) के द्वारा चखा नहीं जा सकता, (नित्यम्) जो अनादि काल से सर्वदा एक रस ही रहता है। (यत् अगन्धवत्) जो पृथिवी के गन्ध गुण से पृथक् वर्त्तमान है। अर्थात् सूंघने से नहीं जाना जाता वा उसमें किसी प्रकार का गन्ध नहीं है। (अनादि) जिसका कोई आदि-कारण भी नहीं है, और जो किसी पदार्थ का आदि-कारण अर्थात् उपादान कारण तो नहीं है, किन्तु आदि निमित्त कारण है (अनन्तम्) जिसकी व्याप्ति का कोई ओर-छोर नहीं अर्थात् जो सर्वत्र व्यापक असीम है, जिसकी महिमा शक्ति विद्या आदि गुणों का पार वा वार नहीं है, (महतः परम्) जो जीवात्मा से भी परे है (ध्रुवम्) जो अचल है, कभी चलायमान नहीं होता, (तत् निचाय्य) उस ब्रह्म को जान कर (मृत्युमुखात्प्रमुच्यते) मनुष्य मृत्यु के मुख से, अर्थात् जन्म मरण के प्रवाहरूप दुःख सागर से छूट जाता है।

यहाँ स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों के द्वारा नहीं जाना जा सकता।

३. स्वामी लक्ष्मणानन्द जी, जिन्होंने अपने जीवन काल में महर्षि दयानन्द सरस्वती से योगविद्या सीखी थी, ने अपने ग्रन्थ "ध्यानयोग प्रकाश" के पृष्ठ १२८ पर इस विषय में लिखते हैं :-

"चमकदर्शन = रोशनी का निषेध — चक्षु इन्द्रिय के ज्ञान का कथन ऊपर किया गया है। सो यह कदापि न समझना चाहिये कि किसी प्रकार का उजाला = रोशनी तारे पटबीजने = जुगनु आदि का दर्शन वा चमक दिखाई देती होगी। यह बात ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ लोगों की अविद्याजनक प्रमादयुक्त मिथ्याभ्रमात्मक-विश्वासजनक कपोलकल्पित कल्पनामात्र है। ब्रह्मविद्या वेदोक्त सत्यविद्या है। अतः ब्रह्मविद्याविधायक वेदादिशास्त्रों में जहां-जहां ज्ञान के प्रकाश का वर्णन है, वहां-वहां नेत्र से दीखने वाली चमक वा रोशनी न समझनी चाहिये। क्योंकि ज्ञान रोशनी नहीं है, प्रत्युत जीवात्मा का वह स्वाभाविक गुण है, जिससे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर पहिचाना जाता है। अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति का मुख्य साधन ज्ञान है।"

यहाँ पर स्वामी जी द्वारा स्पष्ट रूप से रोशनी = चमक = तेज

= ज्योति आदि का सर्वथा निषेध किया गया है तथा परमात्मा को ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करना कहा गया है।

४. परमात्मा का साक्षात्कार ज्योति अथवा तेज रूप में मानने पर विभिन्न दोष आते हैं :-

(क) परमात्मा का ज्योति रूप में प्रत्यक्ष मानने पर, परमात्मा में रूप गुण मानना होगा, जबकि रूप गुण साकार वस्तुओं में ही सम्भव है। ऐसा मानने से परमात्मा में साकार होने का आक्षेप होगा। वैशेषिकदर्शनकार महर्षि कणाद तेज का वर्णन करते हुए कहते हैंः

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ वै० २.१.३॥

जो रूप और स्पर्श गुण वाला है वह तेज है। परन्तु इसमें रूप तेज का स्वाभाविक गुण है तथा स्पर्श वायु के योग से है। (सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास)। तथा प्रशस्तपाद भाष्य में तेज के ग्यारह गुण गिनाये गये हैं :-

रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत्॥ तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। ऊष्ण एव स्पर्शः॥

तेज द्रव्य में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार गुण है। उन ग्यारह गुणों में से श्वेत प्रकाश है तेज द्रव्य का रूप तथा तेज से प्रभावित स्पर्श गुण ऊष्ण ही है।

वैशेषिक दर्शन में रूप गुण पृथिवी, जल तथा तेज में माना गया है परन्तु उसके बाद गिनाये गये अन्य छः पदार्थों में रूप गुण नहीं है यथा वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन में रूप गुण नहीं पाया जाता।

सांख्य के अनुसार भी प्रकृति तथा उसके विकारों रूपी २४ पदार्थों में अन्तिम तीन अर्थात् पृथिवी, जल तथा तेज में ही रूप गुण पाया जाता है शेष २० विकारों तथा मूल प्रकृति में रूप गुण नहीं पाया जाता। ऐसे में प्रकृति से भी सूक्ष्म आत्मा में रूप गुण होने का तो प्रश्न ही नहीं है, और न ही शास्त्र मे ऐसा कोई प्रमाण ही है।

महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टिविद्याविषय में यजु० ३१.१७ के भाष्य में लिखते है :

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्ने ॥

भाषार्थ :- उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि में परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है। वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है। ....

इससे स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ अग्नि के परमाणुओं का संयोग हुआ वहाँ-वहाँ रूप गुण आया और जहाँ-जहाँ अग्नि के परमाणुओं का संयोग नहीं हुआ वहाँ रूप गुण नहीं है — जैसे वायु और आकाश में। अतः अग्नि से सूक्ष्म तथा पूर्व रचित प्रकृति के विकारों में रूप गुण का अभाव है।

दूसरी ओर आत्मा के गुणों का वर्णन करते हुए न्यायदर्शन कार महर्षि गौतम ने छः गुण बताये हैं :-

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति॥ न्याय० १.१.१०॥

जिसमें (इच्छा) राग, (द्वेष) वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ, सुख, दुःख, (ज्ञान) जानना गुण हों वह जीवात्मा कहलाता है। (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

और वैशेषिक में आत्मा के गुण निम्न बताये हैं :-

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥ वै० ३.२.४॥

अर्थात् (प्राण) भीतर से वायु को निकालना (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना (निमेष) आँख को नीचे ढाँकना (उन्मेष) आँख को ऊपर उठाना (जीवन) प्राण का धारण करना (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान

(गति) यथेष्ट गमन करना (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषयों मे चलाना उनसे विषयों का ग्रहण करना (अन्तर्विकार) क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीडा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब आत्मा के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण हैं। (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

यहाँ आत्मा के गुणों में न तो न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम, और न ही वैशेषिकदर्शनकार महर्षि कणाद ने रूप को गुण के रूप में माना या कहा है। अर्थात् इस आत्मा में रूप गुण के अभाव के कारण उसके स्वरूप में तेज = प्रकाश = ज्योति = अग्नि को समावेश नहीं है। कोई भी द्रव्य गुणों के द्वारा ही जाना जाता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ तेज होगा वहाँ-वहाँ रूप गुण अवश्य होगा अथवा जहाँ-जहाँ रूप गुण होगा वहाँ-वहाँ तेज द्रव्य का होना स्वाभाविक है। क्योंकि आत्मा में रूप गुण नहीं है, अतः उसके स्वरूप में तेज का अभाव मानना होगा।

वैशेषिक के अनुसार प्रकृति के स्थूल विकारों में ही रूप गुण है, सूक्ष्म विकारों तथा मूल प्रकृति में भी रूप गुण का अभाव है। अर्थात् स्थूलता के एक स्तर विशेष तक बढ़ने पर ही रूप गुण आता है।

प्रकाश के लिए भी प्रकाश से स्थूल पदार्थ उसके बाधक हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश के हमेशा रहने पर भी पृथिवी के उस भाग में प्रकाश नहीं रहता जो सूर्य से विपरीत दिशा में होता है। तथा इस ब्रह्माण्ड की इसी आकाशगंगा में करोडों तारे हैं, और उनमें से बहुत बड़ी संख्या में हमारे सूर्य से भी अधिक बडे हैं। उनके प्रकाश के लगातार रहते हुए भी, परन्तु हमारी पृथिवी से अत्याधिक दूर होने के कारण, उनका प्रकाश पृथिवी तक उस तीव्रता से न पहुँच पाने के कारण रात्रि होती है, और ये तारे रात्रि में आकाश में स्पष्टया देखें जाते हैं। अतः रूप गुण को व्यापक भी नहीं माना जा सकता।

"स्थूल पदार्थ सूक्ष्म पदार्थों का नियम करने में समर्थ नहीं हो सकता" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदानां नित्यत्व विचार)। अतः रूप, स्थूल पदार्थ का गुण होने से, सूक्ष्म प्रकृति के अन्य विकारों तथा आत्मा और परमात्मा का नियम करने या प्रत्यक्ष कराने में समर्थ नहीं हो सकता।

अतः परमात्मा के स्वरूप में ज्योति या तेज मानने पर ही रूप गुण की विद्यमानता होगी, इससे परमात्मा में स्थूलता तथा साकारत्व को आरोप होगा जो कि सिद्धान्तविरूद्ध होने से सम्भव नहीं है। अतः सूक्ष्म आत्मा तथा परमसूक्ष्म परमात्मा में तेज तथा रूप गुण मानना सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है।

(ख) ऋग्वेद के दसवें मण्डल कें १२९वें सूक्त को नासदीय सूक्त कहा जाता है। इस सूक्त के तीसरे मंत्र को उद्धृत करते हुए सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानन्द लिखते हैं :-

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ऋ० १०.१२९.३॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत रात्रिरूप में जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी आच्छादित था अर्थात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्यरूप कर दिया॥ (सत्यार्थप्रकाश अष्टम् समुल्लास)

यहाँ स्पष्ट कहा है कि जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत रात्रि-रूप में जानने से अयोग्य था। अगर परमात्मा में तेज (जोकि प्रकाश करने वाली अवस्था कही जाती है) है तो सृष्टि रचना से पूर्व की उपरोक्त अवस्था तो सम्भव ही नहीं हो सकती। तब वहाँ अन्धकार कैसे था ? परमात्मा के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होना चाहिए था। यदि यह कहा जाए कि परमात्मा के प्रकाश को कोई अन्य न देख या जान पाये या पाता था इसलिए ऐसा कहा गया है; तो उस अवस्था में एक प्रकृति थी, जो जान नहीं सकती वह भी मूल रूप में — सत्व, रज और तम की साम्यावस्था, दूसरे बद्ध जीव भी सुषुप्ति अवस्था में थे अतः वे भी देख या जान नहीं सकते थे तथा तीसरे मुक्त जीव जिन पर कोई बन्धन नहीं होता, वे ही परमात्मा को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। उन मुक्त जीवों ने तो परमात्मा का पहिले ही साक्षात्कार कर लिया था और अब परमात्मा के आनन्द को भोग रहे हैं, ऐसी अवस्था में उनके लिये अन्धकार का होना अर्थात् परमात्मा की ज्योति का अभाव कहना, युक्तियुक्त नहीं हो सकता। वस्तुतः जब वेद में परमात्मा उस अन्धकारमय अवस्था का वर्णन कर रहा है तो अन्धकार वास्तव में था।

सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में स्वामी जी यमगणों के सम्बन्ध में लिखते हैं :- '......पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं? और मरने वाले जीव को लेने में छोटे द्वार में उनकी एक अंगुली भी नहीं जा सकती और सडक गली में क्यों नहीं रुक जाते ? जो कहो कि वे सूक्ष्म देह भी धारण कर लेते हैं तो प्रथम पर्वतवत् शरीर के बडे २ हाड पोप जी बिना अपने घर के कहाँ धरेंगे ? जब जंगल में आगी लगती है तब एक दम पिपीलिकाादि जीवों के शरीर छूटते हैं, उनको पकडने के लिए असंख्य यम के गण आवें तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिये और जब आपस में जीवों को पकडने को दौडेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जायेंगे, जो जैसे पहाड के बडे २ शिखर टूट कर पृथिवी पर गिरते हैं वैसे ......" यहाँ स्वामी जी यमगणों के काले पहाड जैसे शरीरों से अन्धकार का हो जाना कह कर उस कल्पना को मिथ्या कहते हैं।

उसी प्रकार परमात्मा में सूर्य्य, तारा या अग्नि आदि के समान या तेजस्वी प्रकाश की स्थिति मानने पर सृष्टि में कहीं भी अन्धकार होना ही नहीं चाहिए, न सृष्टि रचना से पूर्व और न सृष्टि रचना के बाद, क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक है। ऐसी अवस्था में तो रात्रि होगी ही नहीं।

(ग)　प्रकाश अर्थात् अग्नि, प्रकृति के अन्तिम पाँच विकारों में से एक है। प्रकृति के विभिन्न विकार अपने-अपने स्तर तक ही रचना का ही बोध करवा पाने में समर्थ होते हैं अपने से पिछले स्तर की रचना का नहीं; जैसे तेज से वायु और आकाशादि पूर्व रचित पदार्थों का साक्षात् नहीं होता। ऐसे में प्रकृति के विकारों से चेतन तत्त्व का बोध या प्रत्यक्ष मानना सम्भव ही नहीं है। अतः रूप के द्वारा आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार मानना सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है।

५.　इस विषय में, ज्योति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार मानने वाले, विद्वानों का यह मत है कि "परमात्मा द्वारा दिव्य शक्ति प्रदान करने पर ही परमात्मा के ज्योतिस्वरूप का साक्षात्कार ज्योति = प्रकाश = तेज के रूप में योगी को होता है; अन्यों को नहीं" इनकी मान्यता के अनुसार योगी आत्म-साक्षात्कार भी तो उसी ज्योति = प्रकाश के माध्यम से ही तो करता है।

वैदिक सिद्धान्तानुसार ऐसा मानना भी उचित नहीं है। ज्योति = प्रकाश के द्वारा साक्षात्कार मानने पर रूप का ग्रहण तो होगा ही, अतः परमात्मा में साकार होने का दोष आयेगा। इस मान्यता के अनुसार योगी आत्मा और परमात्मा दोनों का ही साक्षात्कार प्रकाश = तेज के रूप में ही करता है। अगर तर्क के लिए, ऐसा कुछ देर के लिए, मान लिया जाये कि दोनों का साक्षात्कार ज्योति के रूप में होता है तो परमात्मा के लिए तो योगी को ऐसी शक्ति प्रदान करना चाहे सम्भव मान भी लिया जा सकेगा जिससे कि वह विशिष्ट योगी ही उसके ज्योति रूप का प्रत्यक्ष कर पाये अन्य जीव नहीं। परन्तु जीवात्मा में तो ऐसा कोई सामर्थ्य ही नहीं है कि जिससे कि आत्म-ज्योति का दर्शन = प्रत्यक्ष भी, आत्मा की इच्छा से, विशेष योग्यता वाले योगी को ही हो और अन्यों को नहीं, अथवा अन्यों से वह अपना ज्योतिस्वरूप छिपा ले। ऐसी अवस्था में तो मृत्यु समय में, जीव के शरीर छोडते समय, उस शरीर के समीप उपस्थित सभी व्यक्तियों को आत्मा के प्रस्थान का अनुभव तथा ज्ञान होना चाहिए तथा आकाशस्थ सभी आत्माएँ भी यत्र तत्र जुगनुओं की तरह यहाँ वहाँ टिमटिमाटी हुई प्रत्यक्ष होनी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। ऊपर वैशेषिक तथा न्याय दर्शन के प्रमाणानुसार यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा में रूप गुण है ही नहीं अतः यह कल्पना ही निराधार है। दूसरे रूप गुण साकार पदार्थों में तो सम्भव है निराकार में नहीं। क्योंकि परमात्मा निराकार है अतः वहाँ रूप गुण हो ही नहीं सकता। जैसे कि पूर्व कहा गया है कि तेज की उत्पत्ति सृष्टि रचना के क्रम में अन्तिम से तीसरे स्थान पर हुई है, और तो और अन्तिम पाँच महाभूतों में से वायु और आकाश में भी रूप गुण नहीं है। परन्तु उनका साक्षात् को जन-सामान्य भी करता है — स्पर्श और शब्द के द्वारा। इन्द्रियों, मन, अंहकार तथा महतत्त्व में भी रूप गुण का स्थान नहीं है। अतः परमात्मा के लिए ज्योतिस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, तेजस्वरूप आदि का प्रयोग होने से वहाँ रूप गुण वाली ज्योति या प्रकाश का होना नहीं माना जा सकता वरन् वहाँ ज्योति = प्रकाश से ज्ञान का बोध होता है जैसा कि आगे वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से भी स्पष्ट किया गया है।

यह दिव्य रूप की कल्पना भी अज्ञान से प्रेरित है। दिव्य दर्शन शक्ति

को सांख्यकारिका में महामोह कहा गया है; और महामोह को महर्षि व्यास ने योगसूत्र १.८ में राग का दूसरा नाम कहा है। योगदर्शन में विपर्यय की परिभाषा करते हुए कहा है :—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥योग० १.८॥

अर्थात् विपर्यय मिथ्या ज्ञान है जो वस्तु के स्वरूप में यथार्थ रूप में स्थित नहीं होता। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसे वैसा न जानकर कुछ अन्य प्रकार का जान लेना मिथ्याज्ञान कहाता है। इसी विपर्यय को पाँच प्रकार का कहा गया है :—

"सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति।" (व्यासभाष्य) अर्थात् यह बीजभूत मिथ्याज्ञान विपर्यय वृत्ति अविद्या कही जाती है जो पांच प्रकार की है — अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। इन्हीं पांच के दूसरे नाम इस प्रकार महर्षि व्यास ने गिनाए हैं—

एत एव स्वसंज्ञाःभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति॥ (व्यासभाष्य योग० १.८)

ये ही पांच क्लेश अपने अनुरूप तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र नामों से जाने जाते हैं।

अतः इसी महामोह का दूसरा नाम राग है। दिव्य रूप = दिव्य दर्शन का ग्रहण भी इसी प्रकार राग = महामोह के अन्तर्गत आता है।

अतः महर्षि पतञ्जलि के अनुसार, दिव्य तेज = प्रकाश = ज्योति परमात्मा का स्वरूप न होने से, परमात्मा का वैसा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, और उसे वहाँ मानना मिथ्याज्ञान = अविद्या है; और अविद्या के रहते परमात्म-साक्षात्कार तो वैसे ही सम्भव नहीं है। यह जो दिव्य तेज = रूप दिख रहा है इसमें परमात्म-साक्षात्कार की भ्रान्ति मानना अज्ञान = अविद्या है। इसमें आसक्ति कि यहीं परमात्म-साक्षात्कार है, यही परम लक्ष्य है, और इस पर टिक जाना राग है। इस स्थिति के रहते परमात्म-साक्षात्कार तो संभव ही नहीं है।

योगदर्शन में सत्त्व गुण के लिए प्रकाश शब्द का प्रयोग हुआ है—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥
योग० २.१८ ॥

अर्थात् :- आत्मा से भिन्न यह जगत् प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला, भूत और इन्द्रिय स्वरूप वाला, तथा आत्मा के भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन को सिद्ध करने वाला है।

इसी सूत्र पर महर्षि व्यास लिखते हैं — 'प्रकाशशीलं सत्त्वम्' अर्थात् सत्त्वगुण प्रकाश स्वभाव वाला है। यहाँ प्रकाश गुण, स्वभाव तथा स्वरूप प्रकृति के लिए प्रयुक्त है। इसी प्रकार योग० १.२ में भी महर्षि व्यास चित्त के लिए **प्रख्याप्रवृतिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्** कहते हैं।

योगदर्शन में कहीं भी परमात्म-साक्षात्कार के लिए ज्योति = प्रकाश के प्रत्यक्ष को नहीं कहा गया है। इस विषय में निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं :—

प्रकृति के ज्ञान को कराने वाली सम्प्रज्ञात समाधि आलम्बन सहित है जो कि सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार समापत्तियाँ कहलाती हैं। (योग० १.४२-४४)। इनमें वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का आलम्बन स्थूल भूत और इन्द्रियाँ होती हैं, और

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ योग० १.४५॥

विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का ध्येय विषय सूक्ष्म अर्थात् तन्मात्राओं से लेकर मूल प्रकृति = (सत्त्व, रज, तम) तक होता है। योग १.४६ में इन सभी को सबीज समाधि कहा गया है क्योंकि इन समाधियों का विषय स्थूल भौतिक पदार्थों से लेकर मूल प्रकृति पर्यन्त ही रहता है। अतः इन्हें सबीज समाधियाँ कहते हैं, और इनसे योगी को ऋतम्भराप्रज्ञा की प्राप्ति होती है।

आगे चलकर सभी संस्कारों तथा चित्त की वृत्तियों के निरोध को असम्प्रज्ञात समाधि कहा है :

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ योग० १.५१॥

उस ऋत्मभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों को भी रोक दिये जाने पर सब प्रकार की चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने से आलम्बन रहित = असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

इस अवस्था में चित्त की सारी सत्त्वादि (प्रकाश) वृत्तियाँ भी रूक जाती हैं तथा अन्य संस्कारों का भी निरोध हो जाता है; तथा सभी प्रकार के आलम्बनों के न रहने पर ही असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस समाधि में केवल परमात्मा ही विषय = आलम्बन रहता है।

कैवल्यपाद में योगी के लिए दिशा निर्देश इस प्रकार से है :-

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ योग० ४.२५॥

विवेकख्याति द्वारा चित्त और आत्मा के भेद का साक्षात्कार करने वाले योगी की आत्मविषयक जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है॥ योगी व्यक्ति जब ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप को अलग-अलग जान लेता है, तो उसकी आत्मा विषयक जिज्ञासाएँ समाप्त हो जाती हैं।

तदा विवेक निम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ योग० ४.२६॥

उस विवेकज्ञान के होने पर योगी का चित्त विवेकमार्ग पर चलने वाला और मोक्षाभिमुख = मोक्ष की ओर जाने वाला हो जाता है।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेघः समाधिः॥ योग० २.२९॥

विवेकख्याति = सत्त्वपुरुषान्यताख्याति एवं इसकी (सर्व-भावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व) सिद्धियों में भी रागरहित योगी को पूर्वरूपेण = दृढ विवेकख्याति हो जाने से धर्ममेघ नामक समाधि सिद्ध होती है॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ योग० ४.३०॥

उस धर्ममेघ समाधि की सिद्धि से अविद्यादि क्लेशों, तथा शुभ-अशुभ-मिश्रित कर्मों की निवृत्ति हो जाती है; तथा

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥ योग०४.३१॥

अविद्या आदि क्लेशों तथा सकाम कर्मों के नष्ट हो जाने पर, सब प्रकार के आवरणरूप मल से रहित हुए, ज्ञान के अत्याधिक हो जाने से जानने योग्य विषय थोडा हो जाता है। आगे कहा है कि धर्ममेघ समाधि के पश्चात् परवैराग्य उत्पन्न होता है, जिससे योगी सत्त्वादि गुणों के प्रति भी तृष्णा रहित हो जाता है। परवैराग्य के पश्चात् ही असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञात समाधि से चित्त में बने समस्त संस्कार दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं। और तभी सत्त्व, रज, और तम इन तीन गुणों का प्रयोजन समाप्त हो जाने पर ही —

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ योग० ४.३४॥

भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजनों से रहित हुए बुद्धि आदि रूप से परिणत हुए गुणों का अपने कारण = सत्त्व, रज और तम गुण रूप में लीन हो जाना कैवल्य = अपवर्ग है, अर्थात् पुरुष = जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

इस पूरे सन्दर्भ में कहीं पर भी परमात्म-साक्षात्कार को ज्योति = प्रकाश रूप में नहीं कहा गया है वरन् ज्ञान की उच्च अवस्था के बाद ही असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में ही जीवात्मा को परमात्म-साक्षात्कार तथा मोक्ष भी प्राप्त होता है। अस्तु।

६. कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं :-

प्र० परमेश्वर का कोई रूप है या नहीं ?
उ० उसका कोई रूप और रंग नहीं है, वह अरूप है।

प्र० ईश्वर संसार में दिखलाई क्यों नहीं देता है ?
उ० यदि दिखलायी देता तो कदाचित् सब कोई अपना मनोरथ पूर्ण करने को कहते और उसे तंग करते। दूसरे, जिन तत्त्वों से मनुष्य का यह शरीर बना है उनसे उसको देखना असम्भव है। तीसरे, जिसने जिसको उत्पन्न किया उसको वह क्यों कर देख सकता है ?

प्र० किस प्रकार विदित हो ?

उ० जिस प्रकार दुःख-सुख का प्रभाव मन में विदित होता है उसी प्रकार वह भी विदित हो सकता है। (वेदवाणी वर्ष ३७ अंक ५, पृष्ठ १० पर रईस ब्रजलाल, लखनऊ द्वारा पूछे गये प्रश्न तथा स्वामी जी के उत्तर)

यहाँ पर स्पष्ट हैं कि परमात्मा में कोई रूप नहीं तथा प्रकृति के गुणों के माध्यम से उसे देखना संभव नहीं है।

शंका — महर्षि दयानन्द ने भी ईश्वर को विभिन्न स्थानों पर ज्योतिस्वरूप, तेजस्वरूप कहा है तथा वेदों में भी परमात्मा के लिए तेजः, ज्योतिः, हिरण्यगर्भः आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। जब परमात्मा ज्योतिस्वरूप तथा तेजस्वरूप है जो उसका ज्योति = तेज रूप में प्रत्यक्ष होना क्यों न माना जाये ?

समाधान — महर्षि दयानन्द ने "ईश्वर" का व्याख्यान करते हुए तीन स्थानों पर लिखा है — आर्योद्देश्यरत्नमाला, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश तथा आर्य समाज के दूसरे नियम में, जो कि इस प्रकार से है :-

१. ईश्वर :- जिसके गुण, कर्म स्वभाव तथा स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है, तथा जो अद्वितीय, सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्य गुण वाला है, जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्व जीवों के पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है, उसको ईश्वर कहते हैं। (आर्योद्देश्यरत्नमाला)

२. प्रथम ईश्वर कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से बलदाता आदि लक्षणयुक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूँ।
(स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

३. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है। (आर्यसमाज नियम २)

इन तीनों ही स्थानों पर परमात्मा की परिभाषा करते हुए महर्षि दयानन्द ने परमात्मा को ज्योतिस्वरूप, तेजस्वरूप नहीं कहा।

अब सर्वप्रथम हम वेद में आये विभिन्न स्थानों पर **ज्योतिः** शब्द पर ऋषि दयानन्द का भाष्य, जहाँ परमात्मा परक अर्थ है, देखते हैं :-

१. ज्योतिः = विज्ञानम् = विज्ञान् को (यजु० १४.१४)
२. ज्योतिः = ज्ञान के प्रकाश को (यजु० १५.५८)
३. ज्योतिः = विद्याप्रकाशम् (यजु० १३.२४)
४. ज्योतिष्मतीम् = प्रशस्तं ज्योति विद्याविज्ञानम् विद्यते (यजु० १३.२४)
५. ज्योतिः = ज्ञानप्रकाशम् (ऋ० ६.४७.८)
६. ज्योतिः = तेजः (भावार्थ — प्राणवायु आदि नित्य ज्योति) (यजु० ३.३३)
७. ज्योतिः = प्रकाशकं स्वरूपम् (भावार्थ - मेघ और प्रकाश करने वाला सूर्य बनाया। अर्थात् प्रकाशक) (यजु० ३३.४०)
८. ज्योतिः = विज्ञानप्रकाशम् (यजु० ८.५२)
९. ज्योतिः = स्वप्रकाशं सर्वप्रकाशकं वा = अपने से प्रकाशित तथा सब का प्रकाशक ब्रह्म (जनाने वाला) (ऋ० ६.९.५)
१०. ज्योतिः = प्रकाशकम् (यजु० २३.४८)
११. ज्योतिः = शिल्पविद्याप्रकाशकम् (यजु० २९.३२)
१२. ज्योतिः = प्रकाशयुक्त लोकों के साथ
ज्योतिः = विज्ञानरूप ज्योति (यजु० २.९)
१३. ज्योतिः = सर्वप्रकाशकः
शिल्पविद्यासाधनप्रकाशकः
सर्वात्मप्रकाशको वेद द्वारा सकलविद्योपदेशकः
पृथिव्यादिमूर्तद्रव्यप्रकाशकः
सकलपदार्थप्रकाशनम्

सर्वव्यवहारप्रकाशकम्
सत्यप्रकाशकः (यजु० ३.९)

१४. ज्योतिः = प्रकाशमिव विद्याम् = प्रकाश के समान विद्या का (ऋ० ३.३९.७)
१५. ज्योतिः = सूर्य के प्रकाश के समान विज्ञान का प्रकाश (ऋ० ३. ३९.८)
१६. ज्योतिः = विज्ञान को और आपको (ब्रह्म) (ऋ० ७.३२.२६)
१७. ज्योतिः = ज्ञानप्रकाशकः (यजु० २२.३३)
१८. ज्योतिः = विद्याप्रकाशकम विद्युदादि प्रकाशकम् (यजु० १३.२४)
१९. ज्योतिः = प्रकाशमानम् = प्रकाशमान सूर्यमण्डल (यजु० २७.१०)
२०. ज्योतिः = ईश्वररचितं प्रकाशस्वरूपं सूर्य्यलोकम् (ऋ० १.५०.१०)
२१. ज्योतिः = द्युतिम् (= प्रकाश को देता है) (यजु० १७.५८)
२२. ज्योतिः = दीप्तिम् = सूर्य के प्रकाश को (ऋ० १.९३.४)
२३. ज्योतिः = विद्यादिप्रकाशम् (ऋ० ७.३३.७)
२४. ज्योतिः = विद्याविनयप्रकाशकम् (ऋ० १.११७.२१)
२५. ज्योतिः = न्यायविनयप्रचारकम् (ऋ० १.५७.३)
२६. ज्योतिः = प्रकाशमयम् = प्रकाशमय स्वः = सुख (ऋ०४.१६.४)
२७. ज्योतिः = यथा स्वरन्तरिक्षलोक समूहं द्योतते तथा = अन्तरिक्ष को प्रकाश करने वाले (यजु० ५.३२)
२८. ज्योतिः = न्याय प्रकाशः (यजु० १८.२९)
२९. ज्योतिः = ज्ञान के प्रकाश करने वाले परब्रह्म को (ऋ० १.३६.१९)
३०. ज्योतिः = युद्धविद्याप्रकाशकम् (ऋ० ३.३४.४)

इन सभी अर्थों से स्पष्ट है कि ज्योति शब्द से विभिन्न लोकों तथा विद्याओं का प्रकाशक परमात्मा है। इसी प्रकार तेज शब्द के भी महर्षि दयानन्द द्वारा किये गये विभिन्न अर्थों को दिखाते हैं :-

१. तेजः = प्रकाशमयः = तेजोवत्सर्वविद्यादर्शकः = तेज के समान सभी विद्याओं के दर्शक (यजु० ३८.२५)
२. तेजः = तीव्रप्रज्ञः = ज्ञानप्रकाशकः (यजु० २०.२३)
३. तेजोासि तेजो मयि धेहि (यजु० १९.९)

= हे परमेश्वर ! त्वं तेजोऽस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोऽसि, मय्य-प्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि॥ इसका हिन्दी भाषा में अर्थ करते हुए लिखते हैं - हे परमेश्वर ! आप प्रकाश रूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ईश्वरस्तुतिप्रार्थना विषय)

४. तेजः = स्वप्रकाशः प्रकाशहेतुर्वा = प्रकाश का हेतु (यजु० १.३१)
५. तेजः = यज्ञोत्थम् = यज्ञ से उठा तेज (यजु० ३३.९)
६. तेजश्च = प्रगल्भता धृष्टतो निर्भयता निर्दीनता सत्यव्यवहारे कर्त्तव्या = प्रगल्भता अर्थात् भय रहित होके दीनता से दूर।
(अथर्व० १२.५.७) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोक्तधर्म विषय
७. तेजसे = न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय । (यजु० २०.३) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका राजप्रजाधर्म विषय
८. तेजतेरुत्साह कर्मणो वा (निरुक्तम् १०.६)
९. तेजोऽसि तपसि श्रितम्। समुद्रस्यप्रतिष्ठा। तै० ब्राह्मण ३.११.१.३॥

आइए अब वेद में आये हिरण्यगर्भः शब्द को देखें :—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार द्यामुतेमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजु० १३.४॥

इसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं :- ज्योर्तिविज्ञानम् = ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिसके, और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादिलोक जिसके गर्भ में हैं तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है, तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में है, इसी प्रकार ज्योति = इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिसके सामर्थ्य में हैं, ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं॥ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदाविषयविचार) यहाँ तो स्पष्टतया ज्योति को विज्ञान और परमात्मा के सामर्थ्य को कहा गया है।

इस सन्दर्भ में हम अब ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भी कुछ उद्धहरण देखते हैं:—

१. "वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है ……… .." (वेदविषयविचार)

इस सन्दर्भ में महर्षि ने वसु आदि चालीस देव गिनाये हैं इन चालीस में से अग्नि, आदित्य (सूर्य), द्यौः, और नक्षत्र को छोडकर अन्य पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, १० प्राण, १२ आदित्य आदि में वैसा प्रकाश नहीं है जैसा सूर्य अग्नि आदि में है; अतः यहाँ प्रकाश का अर्थ मात्र ज्योति (रूपगुण वाली) करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार परमेश्वर में भी रूप गुण वाला प्रकाश मानना सम्भव नहीं है।

२. "मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है।" (यजु० ३१.३) पर भाष्य सृष्टिविद्याविषय में। अर्थात् — ज्ञान को ही प्रकाश कहा है।

३. "जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है।" (यजु० ३१.२०) पर भाष्य — सृष्टिविद्याविषय। यहाँ ईश्वर का ज्ञान से प्रकाशित होना कहा गया है।

४. उपासना विषय में निम्न प्रसङ्ग द्रष्टव्य हैं —

क. "परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त होता है।" (यजु० ११.२) पर अर्थ।

ख. "उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है।" तथा "उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है।" (यजु० ११.३) पर अर्थ।

ग. **वृत्तिसारूप्यमितरत्र।** योग० १.४॥ का अर्थ करते हुए कहा है —

"उपासक योगी की वृत्ति ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है।"

घ. **मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्॥** योग १.३३॥ का अर्थ करते हुए कहा है — "इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश ……"

ङ. **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥** योग० ३.२॥ का अर्थ करते हुए कहा है—"....उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम ध्यान है।"

च. **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥** योग० ३.३॥ का अर्थ करते हुए कहा है — "इन सात अङ्गों का फल समाधि है — जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूल हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ....समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्द स्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है।"

यहाँ पर स्पष्टतया ज्ञान और आनन्द को ही प्रकाश कहा है न कि रूप गुण वाले किसी भौतिक या अभौतिक प्रकाश का वर्णन है।

५. मुक्तिविषय के निम्न प्रसङ्ग द्रष्टव्य हैं :-

क. **भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥** वेदान्त ४.४.११॥ पर अर्थ करते हुए कहा है — "मुक्ति में .... शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है।"

ख. **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।**
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ कठो० ६.११॥

इस पर अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं —

".... यह उपासना योग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करने वाला तथा सब अशुद्धि दोषों और असत्यगुणों का नाश करने वाला है।"

ग. **तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।**
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च॥

शतपथ० कां० १४। अ० ७। ब्रा० २। क० १२॥

"उसी मोक्षपर में शुक्ल = श्वेत, (नीलम्) शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गलम्) पीला, श्वेत, (हरितम्) हरा, और (लोहितम्) लाल ये सब गुण

वाले लोक-लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं।......"

यहाँ पर तो स्पष्टतया रूप गुण वाले श्वेत, लाल, नीले, पीले आदि लोक-लोकान्तर हैं जो ज्ञान से प्रकाशित होते हैं न कि ये गुण परमात्मा में हैं।

अब हम सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास के उन स्थलों को देखते हैं जहाँ ईश्वर को ज्योतिस्वरूप आदि कहा है :—

१. **प्रशसितारं सर्वेषामणीयां समणोरपि।**
रूक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ मनु० १२.१२२॥

जो सबको शिक्षा देने हारा, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है उसी को परम पुरुष जानना चाहिए॥

यहाँ स्वप्रकाशस्वरूप का अर्थ किसी भी प्रकार से ज्योति (रूप गुण वाली) संभव नहीं है क्योंकि अगला पद स्पष्ट है कि परमात्मा समाधिस्थ बुद्धि से जाना जाता है (अर्थात् ज्ञान से)।

२. "**अग्नि**" — **'गतस्त्रयोऽर्थाः' :- ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। पूजनं नाम सत्कारः। "योंचति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति सोयमग्निः।"** जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने के योग्य है इससे उस परमेश्वर को नाम अग्नि है। यहाँ अग्नि शब्द से परमेश्वर को ग्रहण करने पर भी भौतिक अग्नि के समान रूप गुण का कहीं भी स्थान नही है।

३. **"ज्योतिर्वै हिरण्यं, तेजो वै हिरण्यं" इत्यैतरेयशतपथब्राह्मणे। 'यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः।'** जिसमें सूर्य्यादि तेज वाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम और निवासस्थान है इससे परमेश्वर का नाम हिरण्यगर्भ है।

४. **तैजस्** = तिज् निशाने इस धातु से तेजः, और इससे तद्धित करने से "तैजस्" शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयं प्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला है, इससे उस ईश्वर का नाम "तैजस्" है।

निघण्टु में तेजः शब्द किरणों के पर्याय में पढ़ा है। **"तिज् निशाने असून् निश्यति तनूकरोति तमः पापं वा"** इस निर्वचन के अनुसार **"तेजसि = निश्यति तनूकरोति वा अज्ञानं पापं वेति तेजः"** — अर्थात् जो अज्ञान तथा पाप को सूक्ष्म करता तथा नष्ट करता है — इस प्रकार यह शब्द परमात्मा का वाचक सिद्ध होता है।

५. **'सूर्य्य'** — **"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** इस यजु० ७.४२ के वचन में जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते फिरते हैं; 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं उन सबका आत्मा होने और स्वप्रकाशरूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम सूर्य है।

यहाँ भी परमात्मा को स्वप्रकाशस्वरूप कहा है। निघण्टु का निर्वचन निम्न प्रकार होने से सूर्य शब्द का अर्थ परमात्मा परक होता है :—

क. **सरति जानाति व्याप्नोति वा सर्वं जगत् स सूर्यः** — अर्थात् सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से ईश्वर सूर्य है।

ख. **सुवति प्रेरयति चराचरं स्वस्वकर्मसु इति सूर्यः** — सम्पूर्ण जगत् का प्रेरक होने से परमात्मा सूर्य है।

ग. **सुष्ठु ईर्यन्तु कम्प्यन्ते स्वीर्यन्ते उपताप्यन्ते वा दस्यवः अनेनेति सूर्यः** — दुष्टों का उपतापन करने से परमात्मा सूर्य कहाते हैं।

घ. **सूर्यो मेधाविनस्तानर्हतीति सूर्यः** — परमात्मा को मेधावी पुरुष ही पा सकते हैं।

ङ. **सूरिषु साधुरिति सूर्य** — मेधावियों के प्रति सूर्य रूप परमात्मा भी साधू है।

च. **स्वीर्यते अर्च्यते भक्तैरिति सूर्यः** — भक्तजनो द्वारा पूजित होने से परमात्मा सूर्य कहाते हैं।

उपरोक्त निर्वचनों से सूर्य्य नाम होने से परमात्मा में ज्योति (रूप गुण वाली) का आभास नहीं होता। वस्तुतः स्वप्रकाशस्वरूप का अर्थ अपने ज्ञान

से प्रकाशित है। जैसे प्रकृति के प्रथम २० विकारों में रूप गुण न होते हुए भी वे सभी ज्ञानपूर्वक जाने जाते हैं इसी प्रकार परमात्मा ज्ञान गुण द्वारा प्रकाशित है।

इस प्रकार जहाँ भी परमात्मा के संबंध में स्वप्रकाशस्वरूप शब्द आया है वहाँ यही अर्थ युक्त है — अपने ज्ञान से स्वयं ही प्रकाशित। स्वामी दयानन्द ईश्वर का एक नाम **निर्गुण** भी गिनाते हैं, जिसका निर्वचन इस प्रकार से किया है :-

"गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैगुर्णयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुणः ईश्वरः" — "यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुणः ईश्वरः" — जितने सत्व, रज, तम, **रूप,** रस, स्पर्श, गन्ध, जड़ के गुण, अविद्या, अल्पज्ञता, राग-द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं उनसे जो पृथक है। जो शब्द, स्पर्श रूपादि गुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम 'निर्गुण' है।

यहाँ स्पष्टतया रूप आदि को प्रकृति का गुण कहा है, और परमात्मा को रूपादि गुणों से रहित कहा है। प्रकृति के गुणों को परमात्मा में आरोपित करना अविद्या है। इससे परमात्मा में किसी भी प्रकार का प्रकाश (रूप गुण वाला) मानना अज्ञान है।

आर्योद्देश्यरत्नमाला में निर्गुणोपासना की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द जी कहते हैं — "शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हल्का, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जान कर जो उसकी उपासना करनी है, उसको निर्गुणोपासना कहते हैं।"

इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश के सप्तम् समुल्लास में कहा है " ..... और द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अति सूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ स्थित हो जाना निर्गुणोपासना कहाती है।" इसी सन्दर्भ में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में कहा है :- "....और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकार वाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें

छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध वाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा, चौड़ा, हल्का, भारी कभी नहीं होता, इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं।"

यहाँ तीनों स्थानों पर स्पष्ट रूप से रूप गुण का निषेध होने से परमात्मा में किसी दिव्य या अदिव्य ज्योति = तेज = प्रकाश की कल्पना करना अज्ञान की पराकाष्ठा होगी।

दूसरी ओर सगुणोपासना का स्वरूप देखें :—

"जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचने वाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्य गुणों से युक्त जान के जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो सगुणोपासना कहाती है।" यहाँ सगुणोपासना में भी किसी प्रकार से ज्योतिस्वरूप या तेजस्वरूप गुण नहीं कहा है जिससे प्रकाश या ज्योति का आभास मात्र भी मिल सके।

अन्त में हम शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण देते हैं, जो परमात्मा में तेज का निषेध करता है। इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहती।

" स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्व मदीर्घमलोहिमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धरसम-चक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयम-मृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमब्राह्मं न तदश्नोति कंचन न तदश्नोति कश्चन॥ शतपथ कां० १४। अ० ६। ब्रा० ८। क० ८॥

अर्थात् याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, दीर्घ, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, वाक्, मन, **तेज,** प्राण, सुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकास, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर

इन सब दोष और गुणों से रहित मोक्ष स्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता, और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण, सबसे अलग, अद्‌भुतस्वरूप परमेश्वर है। उसको प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है। क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है।" — ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मुक्तिविषय।

उपरोक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि किसी प्रकार का तेज (रूप गुण वाला) उसमें नहीं हैं और ना ही परमात्मा का उसके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है।

निर्गुणोपासना के सन्दर्भ में रूपादि गुणों का निषेध, सगुणोपासना में ज्योति या तेज गुण का वर्णन न होना, शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणानुसार परमात्मा में तेजादि का निषेध होने से परमात्मा का ज्योति = तेज = प्रकाश के द्वारा प्रत्यक्ष मानना कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता।

तो परमात्मा का अनुभव कैसा होगा, प्रत्यक्ष कैसा होगा ? इस संदर्भ में हमें सर्वप्रथम जीव के गुणों को जानना होगा। जीव के गुण न्याय दर्शन के अनुसार निम्न हैं — इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान। परमात्मा को साक्षात्कार जीव के इन्हीं गुणों में से किसी एक या एक से अधिक गुणों के माध्यम से ही होगा। परमात्म-साक्षात्कार के लिए अनुकूल गुण होंगे — इच्छा, प्रयत्न, सुख और ज्ञान। द्वेष अविद्याजनित होने से तथा दुःखों से छूटने की इच्छा जीव में होने से, यह दोनों गुण परमात्म-साक्षात्कार में सहायक नहीं हो सकते। प्रथम जीव में परमात्मा को पाने की इच्छा होना, तदानुसार उसको पाने के लिए योग-साधनों के द्वारा प्रयत्न करना तथा ज्ञान और सुख के द्वारा उसको पाना — यही क्रम सम्भव तथा सार्थक है; अन्य कोई नहीं।

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर ज्ञान और आनन्द के रूप में परमात्म-प्राप्ति बताई है, जिनमें से बहुत को हम ऋग्वेदादिभूमिका के द्रष्टव्य उद्धहरणों में दिखा चुके है (जिनसे स्पष्ट है कि परमात्मा जीव को ज्ञान से मिलता तथा ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण कर देता है)।तथा—

१. 'जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है।' ऋग्वेद १०.१२९.७ पर भाष्य — ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय।

२. योगदर्शन में भी परमात्म प्राप्ति के लिए विवेकख्याति तथा परवैराग्य को ही कहा गया है।

३. "ज्ञानान्मुक्तिः" सांख्य ३.२३॥ अर्थात् ज्ञान से विवेक साक्षात्कार से जीव की मुक्ति होती है।

जीव भी चेतन है तथा परमात्मा भी चेतन है। दो चेतनों का प्रत्यक्ष दोनों में उभयनिष्ठ तथा उपस्थित गुणों के माध्यम से ही होता है, अन्य कोई मार्ग नहीं। ईश्वर ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञान को देने वाला तथा जीव ज्ञान को पिपासु तथा ज्ञान को प्राप्त करने वाला; ईश्वर आनन्दस्वरूप तथा आनन्द को देने वाला तथा जीव जन्म-जन्मान्तर से आनन्द की खोज में भटकता हुआ आनन्द को लेने के लिए व्याकुल। अतः ज्ञान और आनन्द के द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार तथा उसकी प्राप्ति होती है।

◆